फातिमा (पुर्त्तगाल)
२१ अप्रैल, २००५

संदेश संख्या – ७७

अष्टावक्र गीता

अष्टावक्र एक प्राचीन प्रज्ञा है जो धर्म के नाम पर संगठित क्षुद्र विश्वास–पद्धतियों तथा ''पवित्र'' विदूषकों द्वारा अध्यात्म के नाम पर चलाये जा रहे विभिन्न व्यापार केन्द्रों का विनाश कर देता है ।

इसका मूल पाठ बृहद् एवं विस्मयकारी किन्तु आनन्दपूर्ण है जो कृत्रिम आचरण की सभी प्रवृत्तियों का विनाश कर अस्तित्व की ऊर्जा में पहुँचा देता है। इस संदेश में अष्टावक्र गीता से कतिपय चालीस श्लोक लिए गए हैं तथा कतिपय अन्य चालीस श्लोकों को अगले संदेश में संत तुलसीदास के हनुमान चालीसा के दृष्टांत के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है । इस पृथ्वी पर कई मानव–धर्मो में ''चालीस दिन का उपवास'' रुपी व्रत रखने की परम्परा है । इस तरह 'चालीस' एक पवित्र संख्या है जो गहरे धार्मिक चेतना के पुष्टीकरण को निरूपित करती है।

भविष्य में कभी किसी देश में होने वाले क्रिया–योग रिट्रीट (गहन स्वाध्याय) में क्रियावान मानवता के इस गंभीर आध्यात्मिकता के उद्‌भव के बारे में रोचक एवं सांकेतिक कहानी के साथ–साथ इन दो संदेशों पर आधारित शिवेन्दु के मुख से आनन्दबोध कराने वाली स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति का रस ले सकते हैं ।

१. त्याग नहीं,
मानसिक प्रदूषणों के प्रति
केवल जागरण ।
और
सत्य की शुचिता का
प्रेम की दिव्यता का
क्षमा की विस्मयता का
सादगी की सुन्दरता का
नित्यानन्द की नित्यता का
भोक्ता नहीं,
केवल द्रष्टा ।

२. पूर्ण जागृति ही
साक्षी होना है
समस्त के प्रति,
और
यही मूल है
सचेतनता का ।
अवधारणाओं में फँसना तो
उतरना है
मूर्च्छा में,
भटकना है निद्रा में,
गिरना है संताप में ।

३. कोई कर्म तुम्हें बाँध नहीं सकता,
क्योंकि
तुम अरूप हो
निराकार हो
निर्गुण हो
शून्य हो
मुक्त हो
समस्त पदार्थों के साक्षित्व से भी परे,
तुम अनुभव नहीं
अनुभवकर्त्ता नहीं
अनुभवातीत हो,
अतएव परम सुखी हो ।

४. तुम सर्वत्र हो, सर्वदा मुक्त ।
सर्वदैव और वस्तुतः मुक्त ।

५. जब तुम्हें काटता है,
स्वार्थ का विशाल काला सर्प,
तब बड़बड़ाते हो,
'मैं यह करता हूँ, मैं वह करता हूँ ।'

६. प्रबोध के अनल में
दहन करो
जंगल अज्ञान का,
मुक्त करो
दुःख से
स्वयं को,
प्राप्त करो
स्व के
सुख को
निजानंद को ।

७. सत् है सर्वत्र
एक
स्थिर
मुक्त
पूर्ण ।

८. जागो
अपने अलग सत्ता के भ्रम के प्रति
कि तुम यह हो, वह हो,
क्योंकि
तुम तो अस्तित्व हो ।

९. विभेदकारी चित्तवृत्ति
आलिंगन में है
अभ्यास के,
आदत के ।
शुद्ध चैतन्य है
तुम्हारी प्रकृति,
प्रवाहित है
सब
तुम में,
तुम
सब में ।

१०. तुम्हारी सहजावस्था है
सर्वदा वही विराट चैतन्य
अथाह
असीम
मुक्त
धीर
और
अक्षुब्ध,
और
तुम वही हो ।

११. रूप है असत्य औ' अनित्य
सत्य और नित्य है अरूप
गर समझ गये तो फिर न जन्म–
और फिर, मौत न होगी तब ।

१२. है अनन्त देही औ' विदेह
निर्विकार दर्पण–सा जो
हवा की भाँति जो है सब जगह
कलश को भरता हुआ भी वह ।
१३. जैसे तरंग
होता है फेन बुदबुद युक्त
पर होता केवल जल।
इसी तरह संपूर्ण सृष्टि
सत् से निःसृत है,
अस्तित्वपरक शाश्वत शून्यता से प्रवाहित है;
और केवल यही सत्य है ।
१४. जब सत्य अज्ञात होता है
तभी,
खिलते हैं,
मानसिक पंजीकरण रूपी
नागफनी के फूल,
अन्यथा नहीं;
कभी नहीं ।
१५. चैतन्य के महासिंधु में
विलीन हो जाते हैं
सारे मानसिक पंजीकरण के–
गंदे नदी–नाले,
ठीक वैसे ही जैसे
कंगन गलकर बन जाता है स्वर्ण,
मृदभांड टूटकर बन जाता है धूल,
तरंग, जल में हो जाती है विलीन,
तदाकार, तदनुरूप।
१६. विराट से तृण तक
क्षणभंगुर है सृष्टि सम्पूर्ण
पर, नित्य है चैतन्य
वाह ! कितना विस्मयपूर्ण।
१७. न मैं ज्ञाता हूँ,
न ही ज्ञात,
न ही ज्ञेय।
ये तीनों नहीं यथार्थ,
होने का केवल देते हैं आभास,
चैतन्य हो जाता जागृत जब
हो जाता है रहस्योद्‌घाटन तब ।
१८. द्वैत ही
दुःखभोग का है मूल;
मूल है अद्वैत ही
आनन्द का ।
१६. यथार्थ ''मैं'' रहता
सभी विभिन्नताओं और विभाजनों से परे
अखण्ड ध्यान में ।
वस्तुतः,
यथार्थ 'मैं' न बंधा होता है और न
होता
मुक्त ही ।

२०. निरावलम्ब आधार है
यह आकाश
सम्पूर्ण सृष्टि का ।
यह मेरे अंतर्जगत की
वही सत्ता है,
जिसमें कोई विभाजन नहीं,
यद्यपि यह सर्वव्यापक चैतन्य
बसता है मुझमें
फिर भी,
यह घटाकाश
महाकाश से भिन्न नहीं ।

२१. समस्त
मानसिक निबंधन
कुछ नहीं है;
धुंध है
कुहासा है
नासमझी का,
पास है
समझ का
उजास तो,
पर्दाफास है
उसकी
असत्यता का
और
उसमें फँसने की
अपनी
जड़ता का
मूर्खता का ।

२२. शरीरी चैतन्य
भिन्न नहीं है;
अखण्ड चैतन्य से
अपितु
वह स्वयं ही
वही चैतन्य है
पूर्ण चैतन्य है ।

२३. जब विचार जन्म लेते हैं कहीं,
तब सहस्र संसार भी हैं
जन्म लेते साथ ही,
उसी से उसी क्षण औ' वहीं ।

२४. सर्वव्यापी चैतन्य
है विराट अथाह, अनन्त–औ' असीम,
जन्म लेते हैं सभी
उससे सहज ही,
और परस्पर हो विमोहित
कर रहे होते
लीलाएँ बहुविध,
फिर उसी में
लीन हो जाते सहज ही,
जन्म लेने हित दुबारा;
फिर कहीं, फिर कहीं; फिर कहीं ।

२५. वह जो स्थितप्रज्ञ है,
द्रष्टा बना देखता है
चुपचाप
सहज
शांत
निखिल सृष्टि को,
निष्प्रभावित रह सदा उससे,
हर्ष–विषादशून्य
मुक्त हर जन्म से,
और परे
क्रोध व अक्रोध से ।

२६. इन्द्रादि देवता
जिस हेतु
आर्त्तभाव से
करते याचना हैं,
पा उसी
महाविभूति, पद, अवस्था को
प्रबुद्धनर
नहीं होता कभी
प्रसन्न, उल्लसित, हर्षित;
क्योंकि वह
स्वभाव से
सहज है
एक रस ।

२७. ब्रह्म से तृण के फलक तक
यत्किंचित व्याप्त है संसार में,
मात्र प्रज्ञापुरूष ही है
सबसे अधिक शक्तिशाली सबमें;
वह कि जिसने
कर दिया है होम
इच्छा और अनिच्छा
आसक्ति और विरक्ति
प्रज्ञा–अग्नि में,
आह !
कितना है यहाँ दुर्लभ
अरे, यह पुरुषरत्न !

२८. यथार्थ तुम एक हो
और वही हो,
हर्ष और विषाद में,
आशा और निराशा में
जीवन और मृत्यु में
सबमें
सर्वत्र,
यथार्थ तुम हो
प्रारम्भ से ही पूर्ण
त्वंभाव का
विलय
हो जाने दो ।

२६. है नहीं कुछ भी यहाँ
स्वीकर योग्य,
इसीलिए
कुछ भी न अस्वीकार योग्य,
फिर कहाँ
कुछ भी यहाँ है
विलय को ।
३०. ग्रहण हित
कुछ भी नहीं है,
त्याग हित
कुछ भी नहीं है
इसलिए
हे प्राण, मेरे !
विलय हित
कुछ भी नहीं है ।
३१. और यही है सत्य जग में
ग्रहण हित
कुछ भी नहीं है
त्याग हित
कुछ भी नहीं है
विलय हित
कुछ भी नहीं है ।
३२. और यही है सत्य कि
जग में
न अर्जन हेतु
कुछ है,
न विसर्जन हेतु कुछ है
वा विलय के हेतु कुछ है ।
३३. आसक्ति से मुक्त
अनासक्ति से युक्त
आकांक्षा और अनाकांक्षा–
से वियुक्त
सत्य हूँ,
विस्मयपूर्ण हूँ,
अतः मेरे लिए
अंगीकार हेतु
कुछ नहीं है;
तिरस्कार हेतु
कुछ नहीं हैं ।
३४. जहाँ नहीं होता
तुच्छ
छुद्र
''मैं''
वहीं है मुक्ति
जो सहज है
स्वभाव है ।
जहाँ 'मैं' है
वहीं बंधन है,
इस पर विचार करो
स्वाध्याय करो ।

३५. निज स्वभाव में वास करो
खुद को मुक्ताकाश करो;
दुनिया केवल छाया है
असत् प्रभाव–समूहों का,
मोह–भ्रांति के ढूहों का,
जागो, इसका त्याग करो
भू पर,
मुक्त विहार करो ।

३६. विलास–वैभव के लिए
स्पर्धा, प्रतिस्पर्धा और लालसा
शत्रु हैं तुम्हारे,
तुम्हें और सद्‌गुणों की हत्या हेतु ही उत्पन्न हुए है;
जागो और संहार करो;
इनका समूल विनाश करो ।

३७. बहुत हो गया प्रयास
विलास हेतु,
बहुत हो गया धन–संग्रह
और न्यायसंगत कम,
चित्तवृत्ति के तिमिराच्छादित वन में
कौन–कौन–सा
कायिक, वाचिक और मानसिक
कसाध्य श्रम नहीं किया तुमने
अब और नहीं;
ठहरो,
अभी, इसी वक्त ।

३८. समस्त प्रकार के दुःख और कष्ट, संताने हैं भय की,
जब तुम इस रहस्य को जान जाते हो,
मुक्त हो जाते हो समस्त परितापों और संतापों से,
विलीन हो जाती हैं समस्त इच्छाएँ
वासनाएँ, आकांक्षाएँ और महत्वाकांक्षाएँ
तुरंत उसी क्षण ।

३६. तुम्हारा कोई विचार नहीं
सफलता हो या विफलता
या मन की असंगत गतिविधियाँ,
तुम शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य हो,
यथार्थतः तुम स्थिर हो;
जब तुम अपने हृदय में जान जाते हो
इस रहस्य को
कि कहीं कुछ नहीं है,
तुम भी नहीं,
तो तुम प्रशान्त हो जाते हो ।

४०. जब मन विभ्रांत हो जाता है
विक्षिप्त और अशांत हो जाता है
झूठी कल्पनाओं के व्यामोह से,
तब जरूरी हो जाता है ध्यान,
और यह जानना ही है ध्यान
अभी यहीं और स्वतः ।